INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL

ISSN: 2230-7850
IMPACT FACTOR : 5.1651 (UIF)
VOLUME - 10 | ISSUE - 7 | AUGUST– 2020

साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता और भारतीय लोकतंत्र

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
असि. प्रो. : हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, पचवस–बस्ती

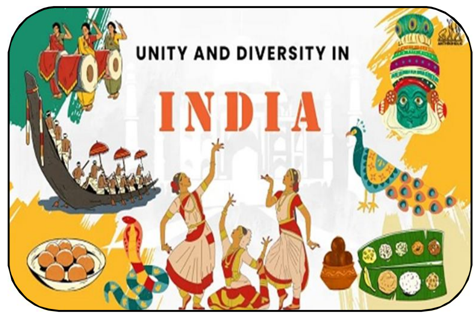

शोध–सार :

यह शोध–पत्र भारतीय लोकतंत्र और साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता के अंतर्संबंध का विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि भारत की बहुलतावादी संरचना में लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक प्रणाली न होकर सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, भाषाई विविधता और सामाजिक समावेशन का सशक्त माध्यम है। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सांस्कृतिक अधिकारों ने विभिन्न भाषाओं, साहित्यिक धाराओं और परंपराओं को संरक्षण एवं विकास का अवसर प्रदान किया है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी, तमिल, बंगाली, उर्दू सहित अन्य भाषाओं का साहित्य समानांतर रूप से विकसित हुआ है। शोध में यह भी स्पष्ट किया गया है कि साहित्य लोकतंत्र के भीतर हाशिए के वर्गों– जैसे दलित, स्त्री और आदिवासी समुदायों की आवाज बनकर सामाजिक न्याय और समावेशन को सुदृढ़ करता है। साथ ही, वैश्वीकरण, भाषाई वर्चस्व, सांप्रदायिकता और सामाजिक असमानताओं जैसी चुनौतियाँ इस संबंध को प्रभावित करती हैं। निष्कर्षतः, यह अध्ययन दर्शाता है कि भारतीय लोकतंत्र की स्थायित्व और प्रभावशीलता उसकी सांस्कृतिक विविधता को संरक्षित एवं प्रोत्साहित करने की क्षमता पर निर्भर करती है, जबकि साहित्य इस प्रक्रिया में संवाद, आलोचना और परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम बनता है।

कुंजी–शब्द : भारतीय लोकतंत्र, सांस्कृतिक विविधता, संविधान, समावेशन, सामाजिक न्याय, बहुलतावाद

Political democracy cannot last unless there lies at the base of it social democracy. What does social democracy mean? It means a way of life which recognizes liberty, equality and fraternity as the principles of life.

-Dr. B. R. Ambedkar

भारतीय लोकतंत्र और साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता का संबंध अत्यंत गहरा, जटिल और परस्पर पोषक है, क्योंकि भारत जैसे बहुलतावादी समाज में लोकतंत्र केवल शासन–व्यवस्था तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह सामाजिक अभिव्यक्ति, सांस्कृतिक सह–अस्तित्व और वैचारिक बहुलता का आधार भी बनता है। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारकृविशेषतः अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता का अधिकार और सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकारकृने भारत की विविध भाषाओं, साहित्यिक परंपराओं और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को न केवल संरक्षित किया है, बल्कि उन्हें निरंतर विकसित होने का अवसर भी प्रदान किया है। यही कारण है कि भारत में एक ओर जहाँ हिन्दी, बंगाली, तमिल, तेलुगु, मराठी, उर्दू, कन्नड़, मलयालम जैसी समृद्ध भाषाओं

का साहित्य समानांतर रूप से विकसित होता है, वहीं दूसरी ओर लोकसाहित्य, आदिवासी साहित्य और क्षेत्रीय साहित्य भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाए रखते हुए राष्ट्रीय साहित्यिक परिदृश्य को समृद्ध करते हैं।

भारतीय लोकतंत्र की मूल भावना बहुलतावाद (Pluralism) और सहिष्णुता पर आधारित है, और यही मूल्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विविधता में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। भारतीय साहित्य में विभिन्न वर्गों, जातियों, लिंगों और क्षेत्रों के अनुभवों को अभिव्यक्ति मिलती है। उदाहरण के लिए, दलित साहित्य, स्त्रीवादी साहित्य, आदिवासी साहित्य और प्रगतिशील साहित्यिक धाराएँ समाज के उन वर्गों की आवाज बनकर उभरी हैं, जिन्हें लंबे समय तक हाशिए पर रखा गया। इस दृष्टि से साहित्य लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन जाता है, जो न केवल समाज का प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है, बल्कि उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखने और परिवर्तन की दिशा में प्रेरित करने का कार्य भी करता है।

साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता भारतीय समाज की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत का परिणाम है। भारत में प्राचीन काल से ही विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों का सह–अस्तित्व रहा है। वैदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य, भक्ति और सूफी परंपराएँ, मध्यकालीन लोककथाएँ और आधुनिक साहित्यिक आंदोलनों ने इस विविधता को निरंतर समृद्ध किया है। भक्ति आंदोलन ने क्षेत्रीय भाषाओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और सामाजिक समानता तथा धार्मिक सहिष्णुता का संदेश दिया। इसी प्रकार, सूफी साहित्य ने प्रेम, भाईचारे और मानवीय एकता को महत्व दिया। आधुनिक काल में, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान साहित्य ने राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जहाँ विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों ने एक साझा राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्त किया।

भारतीय लोकतंत्र के अंतर्गत साहित्यिक अभिव्यक्ति को जो स्वतंत्रता प्राप्त है, वह सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के लोग अपने अनुभवों, परंपराओं और विचारों को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, जिससे सांस्कृतिक संवाद और आदान–प्रदान को बढ़ावा मिलता है। यह संवाद न केवल विभिन्न समुदायों के बीच समझ और सहिष्णुता को बढ़ाता है, बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों– जैसे समानता, न्याय और स्वतंत्रता को भी सुदृढ़ करता है। उदाहरण के लिए, समकालीन हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता, पर्यावरणीय संकट और वैश्वीकरण जैसे मुद्दों पर व्यापक चर्चा देखने को मिलती है, जो लोकतांत्रिक विमर्श को और अधिक समृद्ध बनाती है।

हालाँकि, भारतीय लोकतंत्र और साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता के इस सकारात्मक संबंध के बावजूद अनेक चुनौतियाँ भी सामने आती हैं। भाषाई विवाद, सांप्रदायिक तनाव, जातिगत भेदभाव और क्षेत्रीय असमानताएँ कभी–कभी इस विविधता को संघर्ष का कारण बना देती हैं। इसके अतिरिक्त, वैश्वीकरण और बाजारवाद के प्रभाव से स्थानीय भाषाओं और लोकसांस्कृतिक परंपराओं के अस्तित्व पर भी संकट उत्पन्न हुआ है। अंग्रेजी भाषा का बढ़ता प्रभुत्व और उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तार ने कई बार क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य को हाशिए पर धकेलने का कार्य किया है। ऐसे में यह आवश्यक हो जाता है कि लोकतांत्रिक संस्थाएँ और नीतियाँ इन विविधताओं के संरक्षण और संवर्धन के लिए सक्रिय रूप से कार्य करें।

भारतीय लोकतंत्र में शिक्षा, मीडिया और सांस्कृतिक संस्थाओं की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। शिक्षा के माध्यम से विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के प्रति सम्मान और समझ विकसित की जा सकती है। इसी प्रकार, मीडिया और साहित्यिक मंच विभिन्न सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को व्यापक समाज तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। साहित्यिक उत्सव, अनुवाद परियोजनाएँ और सांस्कृतिक आदान–प्रदान कार्यक्रम भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। अनुवाद विशेष रूप से एक महत्वपूर्ण माध्यम है, जो विभिन्न भाषाओं के साहित्य को एक–दूसरे से जोड़ता है और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करता है।

अंततः, भारतीय लोकतंत्र और साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता का संबंध एक गतिशील और निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया है। यह संबंध न केवल भारतीय समाज की बहुलतावादी प्रकृति को दर्शाता है, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है, जब वह विभिन्नताओं को स्वीकार करते हुए उन्हें अभिव्यक्ति और विकास का अवसर प्रदान करे। साहित्य इस प्रक्रिया में एक सेतु का कार्य करता है, जो विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और समुदायों के बीच संवाद स्थापित करता है और लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृ ढ़ बनाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भारतीय लोकतंत्र और साहित्यिक–सांस्कृतिक विविधता एक–दूसरे के बिना अधूरे हैंय दोनों मिलकर ही एक ऐसे समाज का निर्माण करते हैं, जो न केवल विविधताओं का सम्मान करता है, बल्कि उन्हें अपनी शक्ति के रूप में स्वीकार करता है।

भारतीय गणराज्य विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व में सातवाँ और जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में दूसरा स्थान रखने वाला यह देश अपनी स्वंतत्रता के साथ ही निर्वाचन क्षेत्र की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र बन गया था। भारत जैसे देश में लोकतंत्र की महत्ता असंदिग्ध कही गयी, यह माना गया कि व्यक्ति सिर्फ अपना वोट किसी प्रत्याशी को नहीं देता बल्कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपनी वैचारिक सहभागिता भी तय करता है। स्वतंत्रता के बाद के इतने वर्षों में निरंतर इस लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सशक्त और प्रभावी बनाने के प्रयास किये जाते रहे हैं। फिर भी, यह कहना ही होगा कि जिन उद्देश्यों की अपेक्षा इससे थी, उनकी पूर्ति में यह अभी तक पूर्णतया सफल नहीं रहा है। निश्चित रूप से समकालीन परिदृश्य में भारतीय लोकतंत्र के समक्ष बहुत सी चुनौतियाँ हैं। ये चुनौतियाँ कौन सी हैं, और इनको पार करते हुए क्या सम्भावनाएँ भारतीय लोकतंत्र में सम्भव हैं, इस संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों में दो दिनों तक इन प्रश्नों पर विचार किया जायेगा।

भारत सांस्कृतिक विविधताओं का देश है, विभिन्न धर्मों, जातियों, जनजातियों के लोग यहाँ निवास करते हैं। यह विविधता लोकतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती है। गणतंत्र की अनिवार्यता है कि वह शासन में हर व्यक्ति की समान हिस्सेदारी तय करता है, किन्तु लोकतंत्र में संख्या एक महत्वपूर्ण आयाम है। अतएव अपनी सैद्धान्तिकी में समानता का पैरोकार होते हुए भी लोकतंत्र में बहुसंख्यकों की आवाज़ अधिक शक्तिशाली हो जाती है, इसे लोकतंत्र की आवश्यक बुराई भी कहा जा सकता है। यही कारण है कि लोकतंत्र में पूरे देश की तकनीकी सहभागिता होते हुए भी व्यावहारिक रूप से यह लोकतंत्र कुछ चयनित हिस्सों के अधिक निकट प्रतीत होता है। भारत में पूर्वोत्तर, जम्मू–कश्मीर, आदिवासी बहुल क्षेत्रों में प्रतिरोध की जो आवाज़ें सुनाई पड़ती हैं, उनके पीछे मुख्यधारा से अलग होने की एक गहरी पीड़ा है, जिसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है। यदि डेमोग्राफिक स्तरीकरण से अलग होकर देखें, तो भी पूरे देश में आप ऐसे वर्गों को देख पायेंगे जिनकी प्रतिभागिता लोकतंत्र तमाम प्रयासों के बाद भी बेहद कम है या अपेक्षित रूप से प्रभावी और पारदर्शी नहीं है; दलित, अल्पसंख्यक और स्त्री–वर्ग इसी हाशिए का एक हिस्सा हैं। अधिकारों की असमानता और अवसरों की विषमता ने ऐसी स्थिति को जन्म दिया है, इसीलिए यह प्रायः कहा जाता है कि भारतीय लोकतंत्र हाशिये के हाहाकार से भरा हुआ है। हाल के कुछ वर्षों में उभरे अस्मितावादी विमर्शों की इस परिधि में देखा जाना चाहिए।

आज तमाम प्रयास मतदाता जागरूकता को लेकर किये जा रहे हैं, जिनकी सराहना होनी चाहिए, इन प्रयासों की वजह से मतदान के प्रति लोगों के भीतर उत्साह आ रहा है और लगातार चुनावों में मतदान का प्रतिशत बढ़ रहा है (यूपी में 59.4 प्रतिशत पिछले चुनाव में था, इस बार निश्चित रूप से 60 प्रतिशत से अधिक ही रहेगा।) किन्तु, इस संख्यात्मक वृद्धि के अतिरिक्त जनता के भीतर एक परिपक्व राजनैतिक समझ भी विकसित होनी चाहिए, अभी जिसका अभाव दिखता है। यही कारण है कि ज़मीनी मुद्दों की बजाय भारतीय राजनीति और मतदाता वायवीय और ग़ैरज़रूरी पहलुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, निश्चित रूप से स्वस्थ लोकतांत्रिक व्यवस्था का निर्माण इससे सम्भव नहीं होगा।

Democracy cannot succeed unless those who express their choice are prepared to choose wisely.

-Franklin D. Roosevelt

लोकतंत्र की पारिस्थितिकी पर भी विचार किया जाना चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि लोकतंत्र केवल शासन–व्यवस्था को चलाने की प्रणाली मात्र नहीं है बल्कि एक संस्कृति है। यह लोकतंत्र देश के हर व्यक्ति के सामान्य अधिकारों से भी जुड़ा है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अपने मनमुताबिक जीने की स्वतंत्रता, पर्व मनाने की स्वतंत्रता, खाने–पीने की स्वतंत्रता, कपड़े पहनने की स्वतंत्रता, कलाओं और साहित्य में स्वतंत्रता; ये सारे पहलू मिलकर लोकतांत्रिक संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारत जैसे संस्कृति–बहुल देश में इन लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं की स्थापना एक दुष्कर किन्तु अनिवार्य कार्य है और यह चुनौती भी आसान नहीं है।

आज भारत में लोकतंत्र के हिस्सेदार सभी राजनैतिक दल आन्तरिक लोकतंत्र की कमी से जूझ रहे हैं। लगभग सभी दलों के भीतर तरह–तरह के बदले हुए संस्करणों में परिवारवाद और वंशवाद विद्यमान है। इन दलों के संचालन और उनकी आंतरिक व्यवस्था को भी समीक्षित किया जाना चाहिए कि वे किन परिनियमों के अधीन कार्य करते हैं। फिर चाहे वह अवसरवादिता के कारण दल–बदलने वाले नेताओं का प्रश्न हो, चाहे धर्म या जाति के नाम पर राजनीति करने का मामला हो, या फिर आपराधिक छवि के लोगों को अपने दल में प्रवेश देने का प्रश्न हो।

लोकतंत्र के समक्ष अर्थनीति के प्रश्न भी बड़ी चुनौती हैं, भारतीय संविधान में एक लोककल्याणकारी राज्य का आदर्श सामने रखा गया है। स्वतंत्रता के बाद चुनी गयी सरकार ने अपने सामने समाजवाद का लक्ष्य रखा था और लम्बे समय तक सरकारों ने उस दिशा में काम भी किया। नब्बे के दशक में उदारवाद के प्रारम्भ के साथ अर्थनीति ने एक करवट ली और भारत भी खुली वैश्विक प्रतिस्पर्धा का हिस्सा बन गया। निश्चित रूप से इस परिवर्तन ने औद्योगिक और तकनीकी प्रगति के नये रास्ते खोले हैं, लेकिन इन बदली हुई नीतियों के कारण देश में किसान, मजदूर और आदिवासियों की स्थिति निरंतर बदतर होती गयी है। कभी कृषिप्रधान देश कहे जाने वाले भारत में आज किसानों की आत्महत्या की दर निरंतर बढ़ती जा रही है। हम विकास की लम्बी–चौड़ी बातें तो कर रहे हैं, पर बिना इस बात पर ध्यान दिये बिना कि यह विकास समावेशी है, या नहीं है। बिना समाज के हर वर्ग के वित्तीय समावेशन के किसी समग्र विकास की कल्पना एक आकर्षक धोखे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

विभिन्न राजनैतिक चिंतकों के मत के अनुसार लोकतंत्र को तीन ज़रूरी काम करने चाहिए, पहला यह कि वह अधिक से अधिक लोगों का कल्याण करे, दूसरा यह कि वह विभिन्न मतभेदों को समाप्त करे और तीसरा यह कि वह अंततः एक समानतावादी राज्य की स्थापना करे। सर्वाधिक लोगों का सर्वाधिक कल्याण करना ही लोकतंत्र का मूलभूत उद्देश्य है, किन्तु अपनी प्रक्रियात्मक असफलता के कारण वह चुने हुए लोगों का अधिकतम कल्याण करने तक ही प्रायः सीमित हो जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में, यह भी कहना होगा कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में संसदीय बहुमत जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक संसदीय अल्पमत भी है। यानि बिना सशक्त विपक्ष के आप यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि आपकी सरकार ठीक काम करेगी, प्रायः यह पाया गया है कि इस प्रकार का बहुमत लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर तानाशाही की प्रवृत्ति को जन्म देता है, जो लोकतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती है।

अन्त में यह, कि साहित्य, भाषा, कलाएँ और लोक–संस्कृति भी प्रजातंत्र का अनिवार्य हिस्सा हैं, इनके बिना स्वस्थ लोकतंत्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यद्यपि प्रसिद्ध यूनानी चिंतक प्लेटो के आदर्श राज्य में कवियों के लिए जगह नहीं थी, क्योंकि उसका कहना था कि कवि झूठ बोलते हैं। मैं इसमें जोड़ते हुए यह कहना चाहूँगा कि कवियों के लिए जगह किसी राज्य में जगह आज भी नहीं है, बस आरोप बदल गया है कि वे सच बोलते हैं। दरअसल सवाल बहुत हैं और बहुत उलझे हुए भी हैं, पर लोकतंत्र और कुछ भले न दे सके पर कम–से–कम इतनी आज़ादी तो देता ही है कि आप सवाल पूछ सकें और यह उसकी छोटी उपलब्धि नहीं है।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि धूमिल ने तमाम प्रजातांत्रिक नुस्खों की पड़ताल करते हुए अपनी मशहूर कविता 'रोटी और संसद' में एक सवाल पूछा था कि "**एक आदमी रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है न खाता है/वह सिर्फ रोटी से खेलता है/मैं पूछता हूँ – यह तीसरा आदमी कौन है?/मेरे देश की संसद मौन है!**" मुझे आशा है कि यह संगोष्ठी धूमिल के इस अनुत्तरित प्रश्न उत्तर ढूँढने की दिशा में कुछ कदम ज़रूर चल पायेगी, यही इसकी सार्थकता है।

संदर्भ ग्रंथ–सूची :

1. ऑस्टिन, जी. (1999). द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑफ अ नेशन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. कोठारी, रजनी. (1970). पॉलिटिक्स इन इंडिया. ओरिएंट ब्लैकस्वान।
3. चंद्र, बिपन. (2004). इंडिया सिंस इंडिपेंडेंस. पेंगुइन बुक्स।
4. सेन, अमर्त्य. (2005). द आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन. पेंगुइन बुक्स।
5. भारतीय संविधान. (1950). भारत सरकार।
6. ईगलटन, टेरी. (2008). लिटरेरी थ्योरी : एन इंट्रोडक्शन. ब्लैकवेल पब्लिशिंग।
7. जेमसन, फ्रेडरिक. (1981). द पॉलिटिकल अनकॉन्शस : नैरेटिव ऐज अ सोशल्ली सिंबॉलिक एक्ट. कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस।
8. अल्थुसर, लुई. (1971). लेनिन एंड फिलॉसफी एंड अदर एसेज. मंथली रिव्यू प्रेस।
9. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू. (1978). ओरिएंटलिज्म. पेंगुइन बुक्स।
10. ओमवेट, गेल. (1994). दलित्स एंड द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन : डॉ. आंबेडकर एंड द दलित मूवमेंट इन कॉलोनियल इंडिया. सेज पब्लिकेशन्स।
11. रामविलास शर्मा. (1990). भारतीय साहित्य की भूमिका. राजकमल प्रकाशन।

12. नामवर सिंह. (2002). इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन।
13. मैनेजर पांडेय. (2006). साहित्य और इतिहास दृष्टि. वाणी प्रकाशन।
14. विश्वनाथ त्रिपाठी. (2010). लोक और साहित्य. राजकमल प्रकाशन।
15. हजारीप्रसाद द्विवेदी. (1981). भारतीय संस्कृति के स्वरूप. राजकमल प्रकाशन।
16. रामचन्द्र शुक्ल. (2005). हिन्दी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन।
17. गजानन माधव मुक्तिबोध. (1980). नयी कविता का आत्मसंघर्ष. राजकमल प्रकाशन।
18. पुरुषोत्तम अग्रवाल. (2012). अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय. राजकमल प्रकाशन।
19. विजयदेव नारायण साही. (2003). आलोचना और विचार. वाणी प्रकाशन।
20. कंवल भारती. (2010). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. वाणी प्रकाशन।
21. ओमप्रकाश वाल्मीकि. (2001). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन।
22. मृणाल पांडे. (2015). स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक. राजकमल प्रकाशन।
23. अनामिका. (2013). स्त्रीत्व का मानचित्र. वाणी प्रकाशन।
24. राजेश जोशी. (2016). कविता का लोकतंत्र. राजकमल प्रकाशन।
25. अशोक वाजपेयी. (2014). कला का जोखिम. राजकमल प्रकाशन।